International Journal of Research
Special Issue for UGC Approved Journal-Hindi Papers
Available at https://edupediapublications.org/journals
e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018

वैज्ञानिक युग में धर्म की प्रासंगिकता
('सेज पर संस्कृत' उपन्यास के संदर्भ में)

पूनम
शोधार्थी, हिंदी विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

धर्म मानव समाज का ऐसा व्यापक, स्थायी एवं शाश्वत तत्त्व है जिसको सम्यक रूप से समझे बिना हम समाज के रूप को समझने में असफल रहेंगे। वर्तमान में मानव ने विज्ञान के सहारे अपने पर्यावरण पर काफी नियंत्रण प्राप्त कर लिया है। इसका परिणाम यह हुआ कि समाज या तो धर्म–निरपेक्ष हो गये या धर्म में रूचि रखते और धार्मिक विश्वासों की वैधता को स्वीकार नहीं करते। फिर भी धर्म आज भी एक सार्वभौमिक तथ्य बना हुआ है। धर्म मानव का अलौकिक शक्ति से संबंध जोड़ता है। इसका संबंध मानव की भावनाओं, श्रद्धा एवं भक्ति से है। धर्म मानव के आंतरिक जीवन को ही प्रभावित नहीं करता, वरन् उसके सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन को भी प्रभावित करता है। मार्क्स – 'धर्म' को मानव के लिए 'अफीम' मानते हैं। इस प्रकार धर्म मानव जीवन का एक प्रमुख अंग है।[1]

आज धर्म आजीविका का एक साधन बन गया है। आज धर्म के ठेकेदार, पण्डे–पुजारी आदि धर्म की आड़ में ऐसे विश्वासों, पुरानी मान्यताओं, कर्मकाण्डों व विधि–विधानों का प्रचार कर रहे हैं, 'जिसने चोंच दी है वह चुग्गा भी देगा' व्यक्तियों को निष्क्रिय बनाते है।[2]

धर्म के कर्मकांडी स्वरूप पर वर्चस्व पहले मनुष्य को 'मैं' और 'वह' में बाँटता हैं फिर 'मेरे' धर्म को 'उसके' धर्म से श्रेष्ठ साबित कर दूसरे को 'काफिर' घोषित करता है और अन्ततः अपने धर्म की विजय के उन्माद में 'दूसरे' को तहस–नहस करने के पुनीत्तरकत्तर्व्य में जुट जाता हैं। साम्प्रदायिकता के उत्सव के मूल में इस बर्बर मानसिकता को लक्षित किया जा सकता है जो अपने क्रूरतर रूप में 1992 में 'बाबरी मस्जिद' के विध्वंस में से उभर कर आई हैं। साम्प्रदायिक ताकते सतह पर उभरी विकृत, विद्वेषपरक सच्चाईयों को तूल देकर व्यक्ति को भीड़ और भेड़ में तब्दील करती चलती है। जबकि सत्य यह है कि सतह के नीचे खदबदाती सच्चाईयाँ ही स्थिति पर सटीक विश्लेषण कर पाती है।[3]

विश्व की सभी संस्कृतियों में धर्म का नियंत्रण अभिजा तंत्र एवं सवर्ण जातियों के हाथ में रहा है, जिन्होंने अपने हितों के अनुकूल समाज को विविध वर्णों, वर्गों, जातियों, कबीलों में विभक्त कर स्त्रियों एवं छोटी कही जाने वाली जातियों के लिए आचार संहिता का निर्माण किया है। रीति–रिवाज, व्रत–त्यौहार, वैवाहिक अनुष्ठान, स्त्री–पुरुष को लेकर परम्परागत अवधारणाएँ है।[4]

कोई भी धर्म हो उसके अनुयायी के लिए वह उसके रूप से भी सर्वोच्च है, जिस कारण से धार्मिक संस्थान अधिकांशतः उन पर हावी रहते हैं। इस प्रसंग में यदि स्त्री समुदाय को जोड़कर देखा जाए तो स्थितियाँ और भी भयावह होती नजर आती है। प्राचीनकाल से ही धर्म और स्त्री के संबंध में कई घटनाएँ देखने को मिलती हैं यथा कि उसके धार्मिक स्थलों पर प्रवेश, अनुष्ठानों में सहभागिता, धर्म के क्षेत्र में नेतृत्व का अभाव। ये ऐसे संदर्भ है जिसके द्वारा आसानी से यह बात समझी जा सकती है कि धर्म में स्त्री को सबसे निचले पायदान पर रखा गया जिस कारण से स्त्री शोषण के जो विभिन्न घटक रहे उनमें धार्मिक संस्थानों ने प्रमुख भूमिका निभाई। मधु कांकरिया का उपन्यास 'सेज पर संस्कृत' इसी तरफ इशार करता है। उन्होंने अपने इस उपन्यास में समूचे धार्मिक समुदायों पर प्रश्न–चिह्न लगाया है और इस उपन्यास में धर्म की सुक्ष्म पड़ताल भी है।

मधु कांकरिया अपने इस उपन्यास में धर्म द्वारा समय पर आरोपित स्थितियों का कई जगहों पर वर्णन करती हैं। कैसे ये स्थितियाँ पूरे सामाजिक प्रक्रियाओं को अपने द्वारा निर्धारित व संचालित करती हैं। मनोविश्लेषण के सिद्धान्त में जब यह कहा जाता है कि जिन इच्छाओं व कामनाओं को दबा कर रखा जाता है वह उतनी ही तीव्र गति से उसे प्राप्त करना चाहती है। यही बात उपन्यास में वर्णित **संघ** के रूप में देखी जा सकती है। विजयेन्द्र मुनि, द्विव्यप्रभा (छुटकी) और अभय मुनि इसके प्रतीक है। इनको जिन बातों से सबसे ज्यादा दूर रखा जाता है इन सभी का अंत उसके सबसे ज्यादा समीप होता है। संघ के मानसिक संकुचन को हम द्विव्यप्रभा के अखबार पढ़ने वाले प्रकरण से जान सकते हैं।

पहले धर्म में इतनी अतिवादिता नहीं थी जितनी आज है। आज धर्म शोषण के साथ–साथ दिखावे व वर्चस्व का केन्द्र बन गया है। आज इंसानों के रहने के लिए उतने घर नहीं है जितने मंदिरों की संख्या। यात्री पहाड़ों पर आनन्द लेने के लिए आते है किन्तु पहाड़ों पर दिन प्रतिदिन मंदिरों की संख्या बढ़ रही है। 'फिर एक मन्दिर? हे भगवान, यात्रियों से ज्यादा मन्दिर? एक किलोमीटर की रेंज में दो दिनों के आए यात्रियों के लिए बीस मन्दिर पर यहाँ के मूल वासियों के लिए एक भी अस्पताल और विद्यालय नहीं?. . . आवश्यकता किस चीज की और बना क्या रहा है? पहाड़ पर ऊपर एक और मन्दिर की तैयारी। क्या होगा इतने मन्दिरों का?'[5]

उपन्यास का आरंभ हमें थोड़ी ही देर में पूरे परिवेश से परिचित करवा देता है। एक ऐसा घर जिसमें केवल तीन स्त्रियाँ ही हैं, घर के बाकी पुरुष पात्रों की छः महीने पहले मौत हो चुकी है, जिस कारण ये तीनों स्त्रियाँ गहरे अवसाद में है। जैनियों को हजारी संप्रदाय का एक परिवार पिता और भाई की असामयिक मृत्यु के कारण भय के वातावरण में है। उन्हें लगता है कि मौत हमेशा उनके इर्द–गिर्द घूम रही है, जिस कारण से वे धर्म को अपना सहारा बनाती है, यहाँ पर भय और धर्म के संबंधों को बहुत ही अच्छे ढंग से देखा जा सकता है। भारतीय मानस में भी धर्मों का एक जैसा व्यवहार रहा है,

कथित कुलीनता, ब्राह्मणवाद, पितृसत्तात्मक, सामंतीपन आदि ऐसे तत्त्व है जो सभी जगह एक समान रूप से देखे जा सकते हैं। इस उपन्यास के आरंभ में ही हमें इसका संदर्भ देखने को मिलता है, 'हम जैन है अवश्य, पर हुआ तो हमारा भी धर्मांतरण ही न. . . हम राजपूत से जैन बने हैं. . . जाने किस राजा की बेटी के दहेज में हम लाए गए थे. . . राजा जैन थे तो हमें भी जैन बनना पड़ा, लेकिन इससे क्या होता है. . . मूल रूप से हैं तो हम वैष्णव ही।[6]

यह उपन्यास जैनधर्म के वर्तमान स्वरूप पर प्रहार करता जरूर दिखता है, किन्तु लेखिका ने इसे वहीं तक सीमित नहीं रखा है अपितु यह उपन्यास हर उस व्यवस्था पर चोट करता है जहाँ धर्म के नाम पर व्यक्ति के व्यक्तित्व को खत्म करने की परम्परा हो। संघमित्रा जैन–धर्म और उनकी जीवन शैली पर अनेक प्रश्न खड़े करती है। धर्म के नाम पर पल रही अंधी जीवन–व्यवस्था पर लगातार प्रहार करती है। यह यात्रा एक परिवार को धर्म की आड़ में खत्म करने की परम्परा का दस्तावेज है।

इस शाश्वत सत्य को स्वीकार करना चाहिए कि भारती की आर्हत् मार्गी धर्म–परम्परा में जैन धर्म की विशिष्टता इसकी वैज्ञानिक दृष्टि के कारण नहीं है, 'अनेवयेत दर्शन' आज भी वैचारिकता के धरातल पर पूर्ण लोकतांत्रिक एवं आधुनिक है; फिर भी 'पूर्णिमा' जैसी श्राविका प्रत्येक जैन परिवार में मौजूद है, जो धर्म के मर्म को न समझकर अंध–श्रद्धा व आडम्बरों को प्रश्रय देकर न केवल स्वयं का, बल्कि अपनी संतान का जीवन भी दाँव पर लगा देती है। साध्वाचार भी धर्म के मूल सिद्धातों की मौलिकता के समयानुकूल संदर्भों से दूर ले जा रहा है, फलतः समाज को भी प्रगतिगामी दिशा नहीं मिल पा रही है।

'सेज पर संस्कृत' जैन धर्म व जैन समाज की जीवन शैली पर केन्द्रित यथार्थवादी उपन्यास है, जिसमें लेखिका ने इस प्रश्न को उठाया है कि महावीर के निर्वाण के 943 वर्षों बाद सिर्फ स्मृति आधार पर लिपिबद्ध साधु आचार संहिताओं को समय की गतिशीलता के साथ परीक्षण की जरूरत क्यों नहीं है? लेखिका का कथन है – ''महावीर ने जो **अमृत–वचन** दिए थे, वे टनों भूसों के बीच कहाँ बिला गए। क्योंकि अन्तर्जगत की समस्याएँ शाश्वत हो सकती हैं। भीतर की दुष्ट प्रवृतियों को भ्रमित उचित करने के सवाल शाश्वत हो सकते हैं, भीतर के शून्य से उपजी जिज्ञासाएँ शाश्वत हो सकती हैं, पर बाहरी आवरण, जैविक समस्याएँ एवं मानवीय नियति एवं अस्तित्व की समस्याओं के वे समाधान जिनके तार गतिशील समाज और व्यवस्था के ताने–बानों से जुड़े हैं. . .युगों–युगों तक कैसे अपरिवर्तित रह सकते हैं?[7]

धर्म कोई भी हो सभी में स्त्री की लगभग एक जैसी स्थितियाँ रहती है। मर्यादा, शुद्धिकरण आदि कुप्रथाओं के नाम पर लगातार धार्मिक संस्थानों के द्वारा इनका शोषण किया जा रहा है। जब दिव्य प्रभा विवश होकर वेश्यालय चली जाती है और अपने जीजी से वेश्यालय के बारे में कहती है,

''सच पूछो जीजी, तो यह दुनिया उतनी भी बुरी नहीं। यहाँ कम से कम कोई किसी को बदचलन तो नहीं कहता। उस तपोवन से भी अच्छी है यह दुनिया जिसने आज तक जाने कितनी स्त्रियों को सहारा दिया पर किसी को पापिन कह कर निकाला नहीं।''[8] यह कथन स्त्रियों के प्रति धार्मिक संस्थानों द्वारा किए जा रहे व्यवहार की पूरी जानकारी प्रस्तुत करता है। धार्मिक आडंबर युक्त समाज एक ऐसी अवधारणा है जहाँ यदि आप उसके साँचे में फिट नहीं बैठते तो वह आपको किसी भी रूप में स्वीकार नहीं करेगा।

मधु कांकरिया ने अपनी कथा–पात्रों के माध्यम से समकालीन समाज में धर्म के कर्मकांडी स्वरूप का चित्रण किया है। आज धर्म के नाम पर मानव मानव से भेदभाव, छुआछूत व पक्षपात करता है। क्या इतना भर होता है धर्म? कुछ प्रतीकों, चिन्ही रूढ़ियों, कर्मकांडों में सिमट कर बेहद संकुचित, आत्मलिप्त और संवेदनशील? धर्म के केन्द्र में अपने अल्लाह ईश्वर को बचाने की फिक्र है या मनुष्य की गरिमा का संवर्धन कर मनुष्यता को बचाने की? जो धर्म असहिष्णुता, द्वेष, वैभव, प्रतिशोध और घृणा का पाठ पढ़ाता हो, वह धर्म तो नहीं, क्योंकि धर्म सत् और विवेक के पाँवों पर चल कर मनुष्य को मनुष्य से जोड़ता है।[9] विडम्बना है कि धर्म के ठेकेदार और कर्मकांडी ताकतें, जाति समाज, सम्प्रदाय, भेदभाव आदि के बारे में कुछ भी नहीं सोचते।

सन्दर्भ सूची

1. प्रो॰ गुप्ता, डॉ॰ शर्मा, समाज शास्त्र, पृ 803
2. डॉ॰ पांडुरंग वामन काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ॰ 135
3. डॉ॰ रोहिणी अग्रवाल, समकालीन कविता की देहरी – संघर्ष, जिजीविषा, अदम्य विश्वास और सृजन के प्रतीक (कबीर)
4. गीतेश शर्मा, धर्म के नाम पर, प 67
5. मधु कांकरिया, सेज पर संस्कृत, पृ॰ 19
6. मधु कांकरिया, सेज पर संस्कृत, पृ॰ 9
7. धर्माचरण की युगानुकूल व्याख्या : आज की आवश्यकता, 22 जनवरी 2013
8. सेज पर संस्कृत, पृ॰ 211
9. डॉ॰ रोहिणी अग्रवाल, साहित्य की जमीन और स्त्री मन के उच्छ्वास, पृ॰ 20